भूमिका

सृष्टि के अन्य जीव ईश्वर को नहीं जानते, उसका भजन पूजन भी नहीं करते, किन्तु फिरभी उनका जीवनोद्देश्य यथावत् पूरा होता है। कारण यह है कि वे अपनी 'अंत-प्रेरणा' के प्रति वफादार रहते हैं। हृदय के भीतरी कोने में बैठी हुई चेतना शक्ति हर प्राणी का हर समय पथ प्रदर्शन करती है। इन प्रेरणा के आदेशानुसार काम करना ईश्वर की सची भक्ति है। इस दृष्टि से मनुष्य के अतिरिक्त अन्य सभी जीव जन्तु ईश्वर भक्त हैं। कोई जीव बिना भूख के नहीं खाता, सिंह का पेट भरा हो तो वह पास खड़ी हुई शिकार को न मारेगा, मादा जबतक काम-पीड़ित न हो कोई नर काम प्रस्ताव न करेगा। जब अन्य जीव ठीक तरह अपनी ईश्वरप्रदत्त प्रकृत के अनुसार आचरण करते हैं तो वे स्वभावतः ही ईश्वर भक्त हैं। उन्हें न तो भगवान के जानने की आवश्यकता है और न उसका पूजन भजन करने की।

किन्तु मनुष्यकी स्थिति इससे भिन्न है। उसने अपने बौद्धिक विकाश के साथ २ जीवन को बहुतही कृत्रिम आडम्बर पूर्ण और असत्य बनालिया है। अंतःकरण की प्रेरणाको पग २ पर कुचलकर बनावटी आदतों और कार्योंमें रस लेता है। इस अस्वाभाविकता के कारण जो अत्यन्त भयङ्कर अनर्थ होने की संभावना रहती है, उसकी रोक थाम करने के लिए ईश्वर संबधीज्ञान विज्ञान, पूजा उपासना और कर्मकाण्ड की रचना मनुष्य जाति के तत्वदर्शी विद्वानों ने की है। यह विज्ञान मनुष्य जाति के लिए इतना लाभ दायक सिद्ध हुआ है कि संसार में सर्वत्र ईश्वर वाद की प्रतिष्ठा हुई। लाखों करोड़ों वर्ष की परम्परा के कारण ईश्वर मनुष्य जीवन को एक आवश्यक समस्या बना हुआ है। इस पुस्तक में उस समस्या पर प्रयत्न किया है आशा है कि जिज्ञासुओं को सत्य की शोध में इससे कुछ सहायता मिलेगी।

ईश्वर कौन है? कहां है? कैसा है?



बुद्धि और इन्द्रियों की सहायता से हमें विश्व ब्रह्माण्ड का थोड़ा परिचय प्राप्त होता है। यह ज्ञान बहुत ही स्वल्प है इसके अतिरिक्त भी अनेक ब्रह्माण्ड ऐसे हैं जिनके सम्बन्ध में हम भूलोक वासी मनुष्य प्राणियों को कुछ भी ज्ञान नहीं है। समस्त सृष्टि इतनी विस्तीर्ण है कि बुद्धि की वहां तक पहुंच नहीं हो पाती। यह महान रचना किसी न किसी निर्माता की कृति है। बिना व्यवस्था के तो हमारे छोटे मोटे काम भी नहीं चलते फिर इतनी बड़ी सृष्टि का कार्य बिना किसी संचालक के किस प्रकार चल सकता है? हमारे शरीर के कल पुर्जे बड़ी भारी आश्चर्य जनक उत्तमता के साथ बने हुए हैं। इतना उत्तम यंत्र बनाने में कोई भी विज्ञान वादी अबतक समर्थ नहीं हुआ। चलाने वाले जीव के निकल जाने पर यह बेशकीमती यन्त्र भी बेकार हो जाता है इसका एक भी कल पुर्जा अपना काम नहीं कर पाता, फिर संसार का सारा कार्य जो बिलकुल नियम पूर्वक हो रहा है क्या बिना किसी संचालक के सम्भव है? सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, ग्रह, नक्षत्र, इतने नियम बद्ध हैं कि इनकी नियमितता में कभी एक सेकिण्ड की भी फर्क नहीं पड़ता, दिनके बाद रात होने की शृंखला कभी टूटने नहीं पाती। बचपन के बाद जवानी, फिर बुढ़ापा आता है। पेड़ों में फूल के बाद फल, निकलते हैं, गेहूं के बीज से गेहूं ही उत्पन्न होता है, ऐसा कभी नहीं होता

कि गेहूं से चना पैदा हो या पहले फल आता हो पीछे फूल निकलता हो, न कभी ऐसा ही होता है कि बच्चा पहले बुड्ढा हो जाय फिर जवान हो, सारे काम बिलकुल ठीक नियम से चल रहे हैं। कभी कभी भूकम्प, दुर्भिक्ष, अति वृष्टि, अनावृष्टि आदि अनियमिताएं दिखाई पड़ती हैं पर यह सब भी एक विशेष नियम के आधार पर ही होता है। उन मूल नियमों को समझाने वाले तत्व ज्ञानी विवेक वानों को समस्त सृष्टि में एक रंच मात्र भी अव्यवस्था दृष्टि गोचर नहीं होती। इसलिए निसंदेह इस सुव्यवस्था पूर्वक चलती हुई सृष्टि का चलाने वाला कोई अवश्य होना चाहिए। ससार एक यत्र है इसका सचालन करने वाली शक्ति को ईश्वर को कहते हैं। मोटर जहाज या रेल को बनाने वाला और चलाने वाला कोई विवेकवान् मनुष्य होता है इस सृष्टि को बनाने और चलाने वाली शक्ति ही ईश्वर है।

यह ठीक है कि ईश्वर को हम इन्द्रियों से अनुभव नहीं करते तो भी यह कहना उचित न होगा कि ईश्वर नहीं है। बहुत वस्तुओं को हम प्रत्यक्ष अनुभव नहीं करते तो भी अनुमान के अधार पर उनका अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है। इस समय हम जिस कलम को हाथ में पकड़ कर यह पंक्तियां लिख रहे हैं उसका कोई बनाने वाला है यह बात हम इन्द्रियों की सहायता से नहीं जान सकते। आँखों से यह दिखाई पड़ता है तो भी यह अनुमान यह कहता है कि उसका बनाने वाला अवश्य रहा होगा। ईश्वर को छुआ या देखा नहीं जाता तो भी उसकी कृतियां पुकार पुकार कर साक्षी दे रही हैं कि इनका रचियता कोई न कोई अवश्य है।

भौतिक विज्ञान वादी इस शक्ति का नाम 'प्रकृति' बताते

भूतो को एक विशेष प्रकार की रचना में अपने आप चैतन्यता आजाती है पर अब साइंसवादी अपनी भूल स्वीकार करते जाते है। उन्हें यह मानना पड़ रहा है कि जड़ तत्व ही सृष्टि कर्ता नहीं है वरन् यह पच भूत भी एक आद्यशक्ति की धाराएं हैं। यह आद्यशक्ति अन्धी, निर्बुद्धि या जड़ नहीं है वरम् विवेकवान, क्रमवान, व्यवस्था रखने वाली, संशोधित करनेवाली, संतुलन को बनाये रहने वाली भी है। सृष्टि को कार्यक्रम रखने वाले इलेक्ट्रोन परमाणुओं को सूक्ष्म परीक्षण यन्त्रों की सहायता से मालुम करलिया गया है .पर वे विद्युत परमाणु पचीस हजार मील प्रतिक्षण की द्रुत गति से अपनी धुरी पर कैसे घूम रहे हैं इस संदेह का समधान आद्यशक्ति को माने बिना और किसी प्रकार, नहीं होता।

जैसे अग्नि वायु आदि स्थूल तत्व सर्वत्र अदृश्य रूप से व्याप्त हैं उसी प्रक र वह आद्यशक्ति इन जड़ पंच भूतों तथाअन्य चेतन्य तत्वों के भीतर अत्यत सूक्ष्म होकर विरज रही है। बल्ब को जलाने वाली सूक्ष्म बिद्युत शक्ति तार में रहती है, इस विद्युत को बनाने वाली सूक्ष्म शक्ति चुम्बुक में रहती है, चुम्बक में क्रिया शीलता विश्वव्यापक अग्नि तत्वसे आती है। एकशक्ति का निर्माण दूसरी सूक्ष्म बीज शक्ति से होता है। पंच तत्वों की भी एक बीज शक्ति है। उस बीज शक्ति के बिना वे भी वेचारे अपना काम करने में समर्थ नहीं हो सकते। अग्नि में गर्मी कायम रखने वाली भी कोई सत्ता है। उस दिन बीज शक्ति को ईश्वर कहते हैं, वह सूक्ष्म से सूक्ष्म है किन्तु उसी के द्वारा बने हुए पदार्थ हमारे चारों ओर फैले पड़े हैं इस लिये उसे स्थूल से स्थूल भी कहा जा सकता है।

जो वस्तु जितनी सूक्ष्म होगी वह इतनी ही व्यापक होगी। पंच भूतों में पृथ्वी से जल, जल से वायु, वायु से अग्नि, और अग्नि से आकाश सूक्ष्म है इसलिए एक दूसरे से अधिक व्यापक है। आकाश ईश्वर तत्व, हर जगह व्याप्त है। ईश्वरकी सूक्ष्मता सर्वोपरि है इसलिए इसकी व्यापकता भी अधिक है। विश्व में रंच मात्र भी स्थान ऐसा नहीं है जहाँ ईश्वर न हो। अणु अणु में उसकी महत्ता व्याप्त हो रही है। स्थान विशेष में ईश्वर तत्व की न्यूनाधिकता हो सकती है। जैसेकि चूल्हे के आस पास गर्मी अधिक होती है। इस लिए यह कहा जा सकता है कि उस स्थान पर अग्नि तत्व की विशेषता है, इसी प्रकार जलाशयों के समीप शीतल स्थान में अग्नि तत्व की न्यूनता कही जायगी। जहाँ सत्य का, विवेक का, आचरण अधिक है वहां ईश्वर की विशेष कलाएं विद्यमान हैं। जहां आलस्य, प्रमोद, पशुता, अज्ञान है वहां ईश्वर की न्यूनता कही जायगी। सम्पूर्ण शरीर में जीव व्याप्त है, जीव के कारण ही शरीर की स्थिति और वृद्धि होती है परन्तु उनमें भी स्थान विशेष पर जीवकी न्यूनाधिकता देखी जाती है। हृदय मस्तिष्क पेट और मर्म स्थानों पर तीव्र आघात लगने से मृत्यु हो जाती है परन्तु हाथ, पांव, कान, नाक, नितंब आदि स्थानों पर उससे भी अधिक आघात सहन हो जाता है। बाल और पके हुए नाखून की सत्ता से ही बढ़ते हैं पर उन्हें काट देने से जीव को कुछ हानि नहीं होती। संसार में सर्वत्र ईश्वर व्याप्त है ईश्वर की शक्ति से ही सब कार्य होते हैं परन्तु सत्य और धर्म के कामों में ईश्वरत्व की अधिकता है इसी प्रकार पाप प्रवृत्तियों में ईश्वरीय तत्व की न्यूनता समझना चाहिए। धर्मात्मा, मनस्वी, उपकारी, विवेक वान और तेजस्वी महापुरुषों को 'अवतार' कहा जाता है क्योंकि उनकी सत्य निष्ठा के

आकर्षण से ईश्वर की मात्रा उनके अन्तर्गत अधिक होता है। अन्य पशुओं की अपेक्षा गौ में तथा अन्य जातियों की अपेक्षा ब्राह्मण में ईश्वर का अंश अधिक माना गया है क्योंकि उनकी सत्य निष्ठा, उपकारी स्वभाव, ईश्वर शक्ति को बल पूर्वक अपने अन्दर अधिक मात्रा में खींचकर धारण कर लेता है।

उपरोक्त पंक्तियों में बताया जा चुका है कि सम्पूर्ण जड़ चेतन सृष्टि का निर्माण नियंत्रण, संचालन और व्यवस्था करने वाली आद्य बीज शक्ति को ईश्वर कहते हैं। यह सम्पूर्ण विश्व के तिल तिल स्थान में व्याप्त है, परन्तु सत्य की, उपकार की, विवेक की कर्तव्य की, जहाँ अधिकता है वहाँ ईश्वरीय अंश अधिक है, जिन स्थानों में अधर्म का जितने अंशों में समावेश है वहां उतने ही अंश में ईश्वरीय दिव्य सत्ता की न्यूनता है। ईश्वर कौन ? कहाँ है ? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर उपरोक्त पंक्तियों में मिल जाता है अब तक एक प्रश्न रह जाता है कि "ईश्वर कैसा है ?" नीचे की पंक्तियों में इस सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा।

सृष्टि के निर्माण में ईश्वर का क्या उद्देश्य है ? इसका ठीक ठीक कारण जान लेना मानव बुद्धि के लिए अभी तक शक्य नहीं हुआ। शास्त्र कारों ने अनेक अटकलें इस सम्बन्धसे लगाई हैं पर उनमें से एक भी ऐसी नहीं है जिससे पूरा संतोष होसके सृष्टि रचनामें ईश्वर का उद्देश्य अभीतक अज्ञेय बना हुआ है। भारतीय आध्यात्म वेत्ता इसे ईश्वर की 'लीला' कहते हैं। खेल खेलमें उसने इच्छा की कि "मैं एकहूं बहुतहोजाऊंगा इसलिए उस अदृश्य शक्ति ने दृश्य संसारकी रचना कर डाली। 'एकोऽहं बहुस्याम' की उक्ति पर ही अभी हमें संतोष करना

होगा। संभव है भविष्य में इस संबंध में कुछ अधिक जानकारी प्राप्त की जा सके पर आज तो उस अज्ञेय मर्म के संबंध में बेचारी मानव बुद्धि केवल 'लीलाधर की लीला' ही कहने में समर्थ है।

चैतन्य सृष्टि के संबंध में ईश्वर की क्या इच्छा है? इस संबंध में विकासवाद की खोज के पश्चात बहुत कुछ पता चल जाता है। हम देखते हैं कि तुच्छातितुच्छ जीव भी विकास करता हुआ आगे की ओर बढ़ा चला आ रहा है। हर एक प्राणी उन्नति के लिए प्रयत्न शील है। उत्थान की आन्तरिक प्रेरणा, जो जीव मात्र में प्राप्त होती है ईश्वर की इच्छा समझी जा सकती है। तुच्छता से महानता की ओर, लघुता से महत्व की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, चलते हुए जीव पूर्णता को प्राप्त हो। बंधन से छुटकारा पाकर मुक्त बनें। आत्मा परम-पद को प्राप्त कर परमात्मा बन जावें। चैतन्य सृष्टि के लिए यही ईश्वरीय आदेश प्रतीत होता है। यह आदेश ठीक प्रकार पालन किया जा सके इसलिए उसने अपने को निर्लिप्त और समदर्शी रखा है। किसी जीव की स्वतन्त्र कार्य कारिणी शक्ति में वह जरा भी हस्तक्षेप नहीं करता, और न किसी के साथ किसी प्रकार का पक्षपात करता है। उसने सृष्टि बनाई है और बनाकर नियम सूत्रों से इस प्रकार बांध दिया है कि सब कार्य यथावत् चलता रहता है। घड़ी बनाने वाला कुछ विशेष नियमों के आधार पर घड़ी बनाकर उन्हें ठीक कर देता है, फिर वह घड़ी अपने आप चलती रहती है। घड़ी और संसार के उदाहरण में इतना ही अन्तर है कि घड़ी बनाने वाले का पीछे उससे कोई संबंध नहीं रहता परन्तु ईश्वर और संसार का संबंध ऐसा नहीं है। ईश्वर

सृष्टि में व्यापक है और अपने निर्धारित नियमों के अनुस
चलती हुई सृष्टि को निर्लिप्त होकर साक्षी भाव से देखता रह
है जीवों को कार्य करने की पूरी पूरी स्वतन्त्रता उसने दी
और साथ ही उसके पीछे चित्र गुप्त देवता बाँध दिया है
यथावत् कर्म फल देता चले। गायें चराने वाले ग्वाल लो
किन्हीं गायों के गले में मोटी लकड़ी बाँध देते हैं। अगर ग
अनुचित रूप से भाग दौड़ करती है तो गले में बँधी हुई लक
उसके घुटनों में तड़ातड़ अपने आप लगती है, कर्म का प
अपने आप मिलता रहता है और चराने वाला ग्वाल वृक्ष
छाया में बैठा हुआ यह सब दृश्य देखता रहता है। ईश्वर भ
जीवों के साथ ऐसा व्यवहार करता है। उसने हर जीव के
लिए एक व्यवस्था बनादी है। उस व्यवस्था को स्वभावतः सब
जानते हैं कहीं बाहर जाकर सीखने की आवश्यकता नहीं
होती। 'अन्तःकरण की पुकार' एक निर्दोष धर्म शास्त्र है जिसे
हर जीव अपने साथ जन्म से ही पाता है। धर्माचरण करने

वाले अपनी यात्रा आनन्द पूर्वक जारी करते हुए परम पद तक
पहुच जाते हैं। बदमाशी करने वालों के यथायत् कर्म फल,
उनके साथ रहने वाला चित्रगुप्त देवता देता चलता है दौड़ने
वाली गाय अपने गले में बँधी हुई लकड़ी से अपने आप अपने
पैर घायल करती रहती है। यह बात भली प्रकार स्मरण रखने
की है ईश्वरने सर्वोत्तम शक्तिया देकर-शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियों
से सुसज्जित करके जीव को जीवन संग्राम में विजय प्राप्त करने
के लिए भेजा है। साथ ही पुरी पूरी स्वतन्त्रता भी प्रदान की है।
ईश्वर कर्म करने के स्वतंत्र अधिकार में किसी को रत्ती भर भी
वंचित नहीं करता है और न कर्म फल के लिए चित्रगुप्त की
जो व्यवस्था है उसमें उसी प्रकार का हस्तक्षेप करता है। इस

प्रकार ईश्वर कैसा है? इस प्रश्न के उत्तर में उसे समदर्शी-निष्पक्ष और निर्लिप्त कहा जाता है।

उस आद्य बीज शक्ति परमात्मा की अनेकानेक सूक्ष्म शक्तियों को प्राप्त करने के लिए आध्यात्म विज्ञान के तत्व-वेत्ताओं ने साधन मार्ग का आविष्कार किया। साधन में ध्यान योग प्रधान है। ध्यान उसी वस्तु का हो सकता है जो स्थूल हो, इन्द्रियों से अनुभव की जा सकती हो। शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श में ध्यान के लिए रूप का स्थान सर्वोपरि है। ध्यान के लिये रूप की कल्पना आवश्यक प्रतीत हुई इसलिए आचार्यों ने मनोविज्ञान मर्म का ध्यान रखते हुए ईश्वर के रूप की कल्पना की। आमतौर से मनुष्य ने ईश्वर के लिए उन्नति शील मनुष्य के ही रूप की कल्पना की है। राम, कृष्ण, विष्णु, शिव, गणेश, दुर्गा, लक्ष्मी आदि मनुष्य रूप धारी ईश्वर की प्रतिमाएँ बनाई गई हैं। परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है उस आद्य शक्ति को मनुष्य रूप धारिणी ही माना जाय और पशु पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, वनस्पति रूप में न माना जाय तो यह अनुचित है। ईश्वर यदि मनुष्य है तो पशु, कीट, वृक्ष भी अवश्य है। या फिर एक भी रूप उसका नहीं है। ईश्वर के नाम पर कागज की छपी हुई तस्वीरें, धातु पत्थर की बनी हुई मूर्तियां तथा ध्यान योगियों के मानसिक कल्पना-प्रतिमाएँ दृष्टिगोचर होती हैं वे सचमुच ही ईश्वर नहीं हैं क्योंकि अत्यंत सूक्ष्म और व्यापक तत्व का एकत्रित मूर्त रूप नहीं हो सकता। यदि अग्नि तत्व की एक मूर्ति बना कर कहा जाय कि यही पूर्ण अग्नि देवता हैं तो यह बात असत्य समझी जायगी क्योंकि यदि एक ही स्थान पर अग्नि एकत्रित हो गई तो अन्य स्थानों पर उसका होना कैसे संभव है,? यदि क्षीरसागर में शयन करने

वाले विष्णु ही ईश्वर है तो फिर क्षीर सागर से बाहर की व्यवस्था कौन करता है ? इस प्रश्न का ठीक समाधान न होने से अनेक ईश्वर वाद का मत चल पड़ा था। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश आदि करोड़ों अलग अलग ईश्वर समझे जाने लगे थे। इस सम्बन्ध में पाठकों को निश्चय रूप से समझ लेना चाहिए कि ईश्वर तत्वके सूक्ष्मरूप की कल्पना नहीं हो सकती। स्थूल रूप की एक कल्पना वह हो सकती है जिसे 'विराट् रूप' कहते हैं। अन्य प्रतिमाएँ या तो किन्हीं महानुभावों की हैं या ध्यान योग्य के लिए बनाई गई उच्च आदर्शमयी मानसिक मूर्ति है। मूर्ति पूजा आवश्यक है पर इसका उपयोग ध्यान साधना द्वारा मानसिक उन्नति के लिए है तत्त्व ज्ञान के जिस रूप को यत्र तत्र दिखाई पड़नेवाली कागज की तस्वीरों या धातु पत्थरों की मूर्तियों को ईश्वर मान लेने के लिए नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार उस आद्य बीज शक्ति को–ईश्वर तत्त्व को–विद्युत, अग्नि एव वायु के समान निराकार कहा जाता है।

एक शब्द में ईश्वर को सृष्टि का निर्माण नियन्त्रण तथा संचालन करने वाला दाता. समदर्शी. निष्पक्ष, निर्लिप्त तथा निराकार कहा जा सकता है। वह किसी से प्रसन्न या अप्रसन्न नहीं होता निन्द्रा स्तुति उसके लिए समान हैं। सम्राट छठे जार्ज स्वय किसी चोर को पकने नहीं जाते और न राज भक्तों को पुरुष्कार बांटते फिरते हैं। उनकी शासन व्यवस्था इस ढंग से पनी हुई है कि कानून के अनुसार लोग अपने कर्मों का दण्ड पुरुष्कार पाते रहते हैं। अविनाशी ईश्वरके शासन का कार्यतंत्र, नियम धर्म की धुरी पर घूमता रहता है और परमात्मा साक्षीरूप से निर्लिप्त होकर उसे अवलोकन करता रहता है।

ईश्वरीय शासन से धर्म रक्षा ।



धर्म का अभाव होने में अव्यवस्था को प्रधान कारण माना गया है । सगठन, निरीक्षण, अनुशासन रखने से समाज का सारा काम विधि पूर्वक चलता रहता है, पर जब इसमें गड़बड़ी होती है तब उसका प्रभाव धर्म के तत्कालीन स्वरूप पर भी अवश्य ही पड़ता है । मनुष्य क्रमशः उन्नति करते हुए सभ्य, सुसंस्कृत, शान्ति प्रिय, उदार और सामाजिक प्राणी बना है, फिर भी उनकी पाशविक वृत्तियां मरी नहीं हैं, यदि मनमानी स्वच्छन्दता करने का अवसर प्राप्त हो, किसी नियत्रण का भय न हो तो वह पीछे की ओर लौट पड़ता है और नंगा नांच नाचने लगता है । बग्घी में जुते हुए घोड़े को यदि योंही छोड़ दियाजाय तो वह बिना आगा पीछा, हानि लाभ सोचे सीधा अपने अस्तबल की ओर चल पड़ेगा । और पीछे दुबारा-दूनी-मेहनत करके बहुतसा समय देकार गँवाकर उसी बग्घी में जुतना पड़ेगा, मालिक नाराज होगा, पहुंचने में विलम्ब होगा, यात्रा पूरी करने के लिए अधिक तेजी से दौड़ना पड़ेगा इन सब बातों की ओर घोड़े का ध्यान नहीं होता, इसकी पुरानी आदत ऐसी है कि पीछे के स्थान को-पुराने अस्तबल को अधिक पसन्द करता है । मनुष्य भी स्वच्छन्दता प्राप्त होने पर वैसा ही आचरण करता है क्योंकि वह भी तो आखिर एक पशु ही है । नियत्रण या अंकुशके अभाव में वह ऐसे मार्ग पर चलेगा जो दूसरे के लिए-देश जाति के लिए- उपयोगी हो यह आशा करना व्यर्थ है । निरंकुशसांड चाहे जिसके खेत में चरने पहुंच जाता है, दूसरो के हानि लाभ से

उसे कुछ वास्ता नहीं, मुझे अधिक से अधिक, सुस्वादु हराघास मिले उसका दृष्टि बिन्दु यही एक होता है। खेत न चरकर घास चरो अपने लाभ के साथ दूसरे की हानि का भी ध्यान रखो' इस बात की शिक्षा देने वाला व्यवहारिक गुरु 'डन्डा' ही हो सकता है कोरी, विनय, शास्त्र चर्चा उपदेश, कंठी माला पद प्रतिष्ठा से काम नहीं चलता। नियन्त्रण न होने पर भी कोई व्यक्ति सात्विक धर्म का पालन करे यह बहुत ही कठिन है। यदि कोई भय न हो और सुन्दर भोजन का थाल रखा हुआ मिल जाय तो यह संभव नहीं कि मनुष्य उसको धर्म समझकर न चरले। विस्वामित्र, व्यास सरीखे ऋषि मुनि एकान्त स्थान में सुन्दर स्त्रियां पाकर अपने ब्रह्मचर्य के सुस्थिर न रख सके। यदि किसी सोने की खान का पता लग जाय तो यह समझ कर भला कौन निर्लोभ रहा आवेगा कि यह पराई भूमि की वस्तु है'। रास्ते में पड़े हुए पैसे मिल जांय तो धर्म पूर्वक उन्हें राज्य कोष में जमा करना चाहिए पर व्यवहार से वैसा आचरण करते हुए कितने देखे जाते हैं ?

"स्वच्छन्दता प्राप्त होते ही मनुष्य अपनी पाशविक वृत्तियों की ओर लौट पड़ता है, स्वार्थही उसका प्रधान उद्देश्य बनजाता है। अपनी थोड़ी सी सुविधाओं के ऊपर यह दूसरों के बड़े से बड़े सुख को नष्ट करने के लिए वह तैयार हो जाता है।" इस कडुये सत्य को सभ्यता के आरम्भ काल से ही अनुभव किया जाता रहा है और ऐसे उपाय ढूढने का प्रयत्न होता रहा है जिससे व्यक्तिगत लालसाओं पर-पाशविक वृत्तियों पर नियन्त्रण रखा जाय और व्यक्तिगति इच्छाओं को इतना न बढ़ने दिया जाय कि वह समाज के लिए घातक हो जांय। बड़ी मछली छोटी मछली को भक्षण करके अपनी क्षुधा तृप्ति करती है, सर्पिणी

अपनी भूख को शान्त करने के लिए अपने ही बच्चों को उदरस्थ कर जाती है, बड़ा पेड़ अपने आस पास के पौदों की खुराक छीन कर खुद खा जाता है यह देखने में आता है, परन्तु यदि यही व्यवस्था मानस जाति में निरकुश रूप धारण करले तो निसंदेह हमारी सामाजिकता नष्ट हो जायगी और आदम युग की भांति नंग धड़क पर्वतों की गुफाओं में रह कर मांसाहार की चिन्ता में इधर से उधर फिरना, एक दूसरेसे कुत्तों के समान युद्ध करना यही दृश्य फिर उपस्थित हो जायगे जिसे कि अब हममें से कोई पसन्द न करेगा। यदि आदम युग की ओर नहीं लौटना है और सुख शान्ति पूर्वक सामाजिक जीवन बिताना है तो इस गुत्थी का सुलझाना आवश्यक है कि मनुष्य अपनी पाशविक प्रवृत्तियों पर—निजी सुख समृद्धि पर—नियन्त्रण रखे, स्वार्थके लिए दूसरों को कष्ट न पहुंचावे।

प्रतीत होता है कि ब्रह्मा जी ने वेदों का आरम्भ इसी गुत्थी को सुलझाने के लिए किया। वेदों में ईश्वर की बड़ी प्रशंसा है लिखा है कि ईश्वर ही मनुष्यों को जन्म देता है, पालन करता है, मारता है, स्वर्ग नरक देता है, धन, सन्तान, आरोग्य आदि लौकिक सुख देता है, हमारे गुप्त प्रकट सब कामों को देखता है। 'ईश्वर वाद' का आरम्भ मनुष्य की मानसिक भूमिका पर एक अदृश्य शासन स्थापित करने के लिए हुआ। उस समय सामाजिक व्यवस्था एवं शासन तंत्र का निर्माण न हुआ था यदि हुआ था तो वह बहुत ढीला था, हर व्यक्ति को उसकी मूल इच्छाओं के विपरीत कठोर नियंत्रण में रख जाना कठिन था, ऐसी दशा में ईश्वरवाद बहुत ही उपयोगी था। इस सिद्धान्त पर विश्वास करने वाले—आस्तिक ईश्वरवादी-स्वभावतः अपने ऊपर एक शक्तिशाली शासन की सत्ता स्वीकार कर लेते थे।

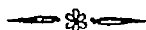
धर्मशास्त्र के निर्माता मनु ने वैदिक सिद्धान्तों का अधिक स्पष्ट वर्णन किया। अनेक योनियों को भ्रमण करते समय जो पाशविक वृत्ति संस्कार रूप में मनुष्य ने एकत्रित करके अपनी गुप्त चेतना में प्रकट करली हैं, उन आदतों को अधर्म या पाप ठहराया गया है। जहाँ कहींभी अधिक स्वादिष्ट हरियाली मिलती है पशु उसे चर लेता है, पर मनुष्य में आई हुई इस वृत्ति पर नियन्त्रण करना आवश्यक हो गया इसलिए यह नियम बना कि अपनी कमाई हुई वस्तु का ही उपयोग किया जाए दूसरों की उपार्जित वस्तु का उपयोग दूसरे को नहीं करना चाहिए। चोरी मत करो।" धर्मशास्त्र को यह आज्ञा घोषित करदी। पशुओं में पति पत्नी प्रथा पर कुछ प्रतिबन्ध नहीं है। एक बलवान हिरन के झुन्ड में अनेक हिरनियां रहती हैं आदम युग में भी ऐसा ही स्वेच्छा वातावरण था, गाय भैंसों की तरह अपनी पराई का भेद न था इससे समाज में गड़बड़ी मचती थी, बने घर उजड़ जाते थे, बलवान, स्वरूपवान, संपत्तिवान, स्त्री, पुरुष विपरीत पक्ष को अधिक आकर्षित कर सकते थे इससे परिवारों का स्थायित्व बड़ा डांवाडोल रहता था। आज एक घर में पति पत्नी साथ साथ रह रहे हैं कल न जाने किसका जी उचट जाय और दूसरे को झमेले में डाल कर खुद अलग हो जाय। इस गड़बड़ी को रोकने के लिए धर्मशास्त्र ने आदेश किया 'व्यभिचार पाप है' मनुष्य को अपनी ही स्त्री से संतोष करना चाहिए। इस प्रकार छल, कपट, झूठ, हिंसा, कटुवचन, कृतघ्नता, लूट, सताना, अपहरण, चुगली, छिद्रान्वेषण, क्रोध, लोभ, मोह, क्रूरता आदि को पाप घोषित किया गया। पाप का अर्थ है त्याज्य कर्म निंदित कर्म जो कर्म पाप बताये जाते हैं असल में वे मनुष्य की पूर्व संचित पाशविक वृत्तियां हैं जो

कर पक्षी पुराने अस्तबल से भागजानेके लिए इच्छा लुकाती रहती हैं। यदि उन्हें जरा भी अवसर, निर्भयता एवं स्वच्छन्दता प्राप्त हो तो वे बिना चारा पीड़ा देखे मनुष्य की सामाजिकताको नष्ट करके उसे पुनः पशु स्वभाव वाला अधार्मिक बना देती है।

अब पाठक समझे होंगे कि धर्मशास्त्र का मुख्य प्रयोजन क्या है? सारे धर्म शास्त्रों का मंथन कर डालिए उनकी अनेक गाथाओं का उद्देश्य यह है कि लोग अपने स्वार्थ को दबाये रहें अपनी लालसाओं को अत्यंत उग्र न होने दें, पशु संस्कारों को नंगा होकर प्रकट न होने दें, क्योंकि इसके बिना समाज में सुख शान्ति नहीं रह सकती। धर्माचरण के बिना सारा समाज क्लेशों, उपद्रवों, अत्याचारों, पीड़ाओं का घर बन जायगा, कोई भी चैन से न बैठ सकेगा।

प्राचीन समयके व्यवस्थाकार बड़े सूक्ष्मदर्शी थे। उन्होंने धर्म शास्त्रों की रचना की, नियम बनाये, आज्ञा पत्र घोषित किये, पर साथ ही यह भी अनुभव किया कि यह शास्त्राचार बिना किसी कठोर नियंत्रण के चिरस्थाई न रहेगा। वासनाओं की प्रबलता के सामने यह सब धर्म तंत्र आंधी के पत्ते समान उड़ जायगा। पुस्तक में लिखा है, मनु महाराज ने कहा है, इतने मात्र से संतोष कर लेने वाले व्यक्ति इस सृष्टि पर बहुत ही कम प्राप्त किये जा सकते हैं। शासन तो दंड और लोभ द्वाराही संभव है। पशु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना हो तो दो ही उपाय हैं या तो उसके मुँह के आगे दाना रखते जाइये और लोभ दिखाकर चाहे जहाँ ले जाइये या फिर लाठी फटकारते हुए चलाइये। इच्छित स्थान से अवांछित स्थान को ले जाने का इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। लोभ या भय के

कारण ही रुचिकर कार्य किये जा सकते हैं। चाहे जहाँ से लेकर खा लेने का रुचिकर कार्य छोड़कर यदि चोरी न करने के नियन्त्रण में बँधने को कहा जाय तो मनुष्य के लिए भी लोभ और भय ही दो मार्ग रह जाते हैं। सम्भवतः इन्हीं मनोवैज्ञानिक रहस्यों को भली भांति समझ कर ब्रह्मा जी ने ईश्वरवाद की स्थापना के लिये वेदों का महत्वपूर्ण साहित्य निर्माण करना आरम्भ किया था।



ईश्वर वाद विश्लेषण।

—❀—

वैदिक ईश्वर वाद का विश्लेषण करने पर हम उसके अन्तर्गत निम्न तत्वों का समावेश पाते हैं। (१) "ईश्वर हमारे गु कार्यों और विचारों को भी जानता है, वह बहुत बल वाला है (२) ईश्वर प्रसन्न होने पर भौतिक सुख सामग्रियां और पर लोक में स्वर्ग एवं मोक्ष देता है। (३) वह नाराज होने दैविक, दैहिक, और भौतिक कष्ट देता है। (४) धर्माचर और उपासना से वह प्रसन्न होता है, पापी और नास्तिकों अप्रसन्न रहता है।" अनेकानेक मंत्र, सूत्र श्लोक, इन्हीं च धारणाओं के आस पास चक्कर लगाते हैं अर्थात् नाना प्रकार इन्हीं चार बातों का प्रतिपादन, उपदेश करते हैं। अब विचार करना चाहिए कि कैसी बुद्धिमत्ता पूर्वक मान शासन स्थापित करने की यह व्यवस्था है। ईश्वर सर्व व्या होने से हमारे सब कामों को देखता है यह शासन की अ

आवश्यकता के लिए है। देखा गया है कि पुलिस थाने के पास तो चोर लोग उपद्रव नहीं मचाते पर जहां पुलिस की पहुँच कम और देर में होती है वहाँ चोरियाँ डकैतियाँ अधिक होती हैं। भरी हुई चलने वाली सड़कों पर तो लूट नहीं होती पर निर्जन स्थानों में लुटेरों की खूब घात लगती है। प्रकाश की अपेक्षा अन्धकार में अपराध अधिक होते हैं। इससे प्रतीत होता है कि दुष्टता भरे काम की अधिकता न्यूनता से इस बात पर निर्भर है कि चोर को कोई देखता है या नहीं, देखने वाला बलवान है या नहीं। बन्दर किसी छोटे बच्चे को कमजोर समझ कर उसके हाथ से रोटी छीन ले जाता है पर बड़े आदमी की ओर बढ़ने में उसकी हिम्मत नहीं पड़ती क्योंकि बन्दर जानता है कि बलवान आदमी सहज में रोटी न छीनने देगा और डंडे से हड्डी पसली तोड़ कर रख देगा। ईश्वर अनन्त बल वाला है, सर्व व्यापक है और पाप से अप्रसन्न होता है, इसका अर्थ दूसरे शब्दों में यह हो सकता है कि कोई हाथी जैसे बलवाला पुलिस का खुफिया सिपाही हाथ में सगीन और हथकड़ी लिए अदृश्य रूप में हमारी निगरानी के लिए हर वक्त सिर के ऊपर रहता फिरता है। यह विश्वास जितना ही अधिक सच्चा, स्पष्ट, और बलवान होता है उतना मनुष्य धर्म प्रिय बनता जाता है। उपरोक्त विश्वास जितना ही संशयात्मक अस्पष्ट धुँधला और निर्बल होता है उतना ही स्वच्छन्दता एवं दाम्भिकता बढ़ती जाती है, अपराधी की मनोवृत्ति उसी मात्रा में बढ़ती जाती है। ईश्वरीय शासन नहीं है, सन्देहात्मक है, एवं निर्बल है, ऐसी मान्यता बढ़ने से मानसिक अराजकता फैलती है। जब गदर होता है तब उपद्रवी लोग पूरी तरह स्वार्थ साधन करते हैं क्योंकि उनका विश्वास होता है कि राज सत्ता नष्ट या निर्बल होगई है वह हमें

दृढ़ नहीं दे सकती । हम देखते हैं कि ईश्वर भक्त कहाने वाले लोग बड़े बड़े पाप करते हैं इसका मनोवैज्ञानिक हेतु यह कि पाखंड की तरह, लोगों को भुलावे में डालने के लिए, सस्ती वाहवाही लूटने के निमित्त, वे लम्बे चौड़े तिलक लगाते हैं, कंठी माला धारण करते हैं, रामधुन लगाते हैं पर मानसिक भूमिका के अन्तर्गत ईश्वर की अत्यन्त ही धुँधली सत्ता धारण किए रहते हैं । ऊपर की पंक्तियों में अदृश्य रूप से चौकीदारी करते हुए शिर पर चढ़ने वाले पुलिस मैन के सम तुल्य जिस कल्पना का उल्लेख किया गया है वह चित्र तो उनके मनमें बहुत ही धुँधला होता है, इसलिए मानसिक अराजकता के अंधेरे में उनकी पशुवृत्तियां मन मानी करती रहती हैं ।

ईश्वरवाद का प्रथम सिद्धान्त ही आधार भूत है । ऐसी घड़ी किस काम की ? जिसमें सुइयाँ ही न हों । बे पेंदी का लोटा भला किसी की प्यास बुझा सकता है ? वेद के जितने मंत्रों में ईश्वर संबंधी वर्णन है उनका अधिक भाग ईश्वर के महानता सूचक गुणों का गान है । उन गुणों में भी सर्व व्यापकता, और बल शालीनता का उल्लेख अधिक किया है । प्रयोजन यह है कि मनुष्यों के मस्तिष्क में यह चित्र बहुत ही साफ और सुदृढ़ बन जाय कि "वह अनन्त बल वाला शंख, चक्र, गदा जैसे कठोर दृढ़ शस्त्रों से सुसज्जित ईश्वर, पाप से बहुत क्रुद्ध है और हमारी चौकीदारी के लिये अदृश्य रूप से हर घड़ी साथ रहता है ।" जिसके मन में यह कल्पना-चित्र जितना अधिक गहरा और श्रद्धा विश्वासमय है वह उतना ही बड़ा आस्तिक है । जिसके अन्तः करण में यह विश्वास जितना निर्बल है वह उतने ही अंशों में नास्तिक है ।

चार सिद्धान्तों में ऊपर कहा हुआ सर्व व्यापकता का सिद्धान्त प्रमुख है। शेष तीन उसकी पूर्ति के लिए हैं। "प्रसन्न होने पर भौतिक सुख या स्वर्ग मोक्ष देने" की बात में प्रलोभन का तत्व मौजूद है। जो पशु स्वभाव को ललचाने के लिए आवश्यक है। धर्म ग्रन्थों का बहुत बड़ा अंश "महात्म्य" के वर्णन में लिखा हुआ है गङ्गा स्नान से पाप कट जाते हैं, सत्य नारायण की कथा सुनने से धन प्राप्त होता है, शङ्कर जी औघड़दानी हैं, वे खुश हो जांय तो मालामाल कर देते हैं हनुमान जी रोगों भूत पिशाचों को मार भगाते है, तुलसी पूजन से लड़की को अच्छा दूल्हा एवं लड़के को गुड़िया सी बहू मिलती है, ललकुण्ड में स्नान करने से सन्तान होती है। हर एक तीर्थ का, व्रत उपवास का, पुस्तक सुनने का, पढ़ने का, सत्संग का, निदान छोटे से बड़े तक सभी उत्तम कामों का हिन्दूधर्म ग्रन्थों में खूब बड़े बड़े महात्म्य लिखे मिलते हैं वह सब मनुष्य के पशु स्वभाव को ललचाने के लिए है। बैल को घास के तृण दिखाते ले जाइये वह आपके पीछे पीछे चला चलेगा। छोटी मानस चेतना वालों के लिए प्रलोभन आवश्यक समझ कर महात्म्यों का उल्लेख करना धर्माचार्यों के लिये अत्यन्त आवश्यक था, इसके बिना वह कार्य आगे न बढ़ता और गाड़ी रुक जाती। ईश्वर के सम्बन्ध में भी उन्हें इसी नीति का अवलम्बन करना पड़ा।

तार्किक लोग अक्सर यह कहते सुने जाते हैं कि-"भजन का कुछ महात्म्य नहीं, भजन करने वालों को कोई ऐसी संपदा नहीं मिलती जो भजन न करने वालों को न मिलती हो। यदि मिलती है तो उसमें उनका कर्तव्य हेतु होता है भजन नहीं।" ऐसे महानुभावों से हमारा निवेदन है कि वे हर बात में तर्क

न करें। "दूध पीने से चोटी बढ़ जायगी" ऐसा उपदेश माताएँ अपने पुत्रों को अधिक दूध पिलाने के लिए करती हैं। "अमुक काम कर लावेगा तो तू राजा बेटा हो जायगा," ऐसे ऐसे प्रलोभनों द्वारा माताएँ अपने बालकों को आज्ञानुवर्ती बनाती हैं यदि माताएँ इस मार्ग को छोड़ कर अधिक दूध पिलाने के लिए बच्चों को समझावें कि "दूध में, अच्छे विटामिन, कौलिशयन, फास्फोरेस, प्रोटीन आदि ऐसे तत्व हैं जो रक्त के श्वेत कीटाणुओं की वृद्धि करते हैं" तो यह उपदेश सत्य होने पर भी निरर्थक होगा। आज्ञानुवर्ती बनाने के लिए यदि वे 'राजा बेटा होने' का प्रलोभन छोड़दें और मनुस्मृति के श्लोक खोलकर धर्मोपदेश सुनावें एवं बच्चों को अल्पज्ञ होने के कारण माता की आज्ञा मानने से ही अधिक मानसिक विकास होता है, ऐसा उपदेश करें, तो वह निरर्थक होगा। तार्किक कह सकते हैं, कि माता झूंठ बोलती है चोटी बढ़ने और राजा बेटा होने का प्रलोभन असत्य है। परन्तु इतना कहने से ही काम न चलेगा उन्हें वास्तविकता की पेचीदगी तक पहुंचना होगा। छोटे बच्चे का अविकसित मस्तिष्क लोभ के अतिरिक्त और किसी ढंग से प्रभावित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार धर्माचार्यों ने भी धर्म मार्ग में बाल बुद्धि, स्वल्प ज्ञान रखने वालों के लिए नाना प्रलोभनों से युक्त महात्म्यों की रचना की। और कोई मार्ग भी तो उनके पास न था। इस प्रकार ईश्वर की कृपा से भौतिक सुख सम्पत्ति एवं स्वर्ग मोक्ष प्राप्त होने का प्रलोभन रखा गया है तो कुछ अनुचित नहीं। कर्म करने से ही सुख मिल सकता है ऐसी मान्यता रखने वालों से हमारा कुछ विरोध नहीं है। शास्त्र में ईश्वर शब्द बहु अर्थ वाचक है कहीं कहीं उसका अर्थ कर्म भी होता है। कर्तव्यवादी इस स्थल

पर ईश्वर शब्द का अर्थ कर्म करते हों हमें कोई आपत्ति नहीं है।

इसके बाद भय का नम्बर आता है अप्रसन्न होने पर ईश्वर नाना प्रकार के दण्ड देता है। यह प्रलोभन वाले उपरोक्त भाग का दूसरा पहलू है। किसी भी पदार्थ के दो पहलू होते हैं एक उजेला दूसरा अंधेरा। ब्रह्मचर्य रखने से बलवान बनोगे यह वीर्य रक्षा का उजेला पहलू है। वीर्य नाश करने से रोगों से ग्रसित हो जाओगे यह उसी एक सिद्धान्त का अँधेरा पहलू है। विद्या पढ़ने से कितने सुख मिलेंगे जब यह बताया जाता है तो यह भी कहा जाता है कि न पढ़ने से बहुत अभाव ग्रस्त एवं दुखी जीवन बिताना पड़ेगा। इसी प्रकार जहां ईश्वर की प्रसन्नता से सुख मिलना कहा गया है, वहां उसका अंधेरा पहलू यह भी बताया गया है कि ईश्वर के नाराज होने से दुख और कष्ट मिलते हैं। लोभ को उजेला पहलू कहा जाता है भय उसका अंधेरा पहलू है। लोभ से भी मार्ग न चलने वाले पशु स्वभाव के लिए अन्तिम मार्ग भय ही बच रहता है। धर्म आज्ञाओं पर न चलोगे तो ईश्वर नाना प्रकार की आधिव्याधियों से व्यथित कर डालेगा। यह भावना अधर्म पर चलने से रोकती है। यदि गहरा विश्वास जम जाय तो निस्संदेह जीवन की सारी क्रियाएं इसी के अनुकूल होने लगती हैं। पानी में डूबने से मृत्यु हो जाती है यह विश्वास सदैव गहरे पानी में जाने से सावधान करता रहता है। प्रत्यक्ष रूप से डूब कर मरने का अनुभव अपने को चाहे जीवन भर न हुआ हो पर विश्वास अनुभव से भी अधिक प्रबल होता है। अनुभव को भूला जा सकता है पर विश्वास का विस्मरण नहीं होता। मूर्खों का विश्वास अधिकांश में कल्पित होता है पर उस

अन्ध विश्वास से ही अगणित व्यक्ति सुख दुख का प्र
अनुभव करते हैं कितने ही तो उसी में उलझ कर मर
जाते हैं निस्संदेह विश्वास बड़ी प्रबल शक्ति है। ईश्वर पाप
दण्ड देता है यदि इस बात का पूर्ण निश्चय हो जाय तो संगी
पहरे में हथकड़ी लगा हुआ कैदी जैसे भलमनसाहत के
चलता है वैसा ही आचरण ईश्वर वादी को करना पड़ेगा।

चौथा तत्व यह कि 'धर्माचरण और उपासना से ई
प्रसन्न होता है इसके विपरीत से अप्रसन्न।' धर्माचरण की
हम उपरोक्त पंक्तियों में विस्तार पूर्वक समझा चुके हैं कि तुच्छ
स्वार्थ से, पशुवृत्ति से, सामाजिक जीवन की ओर बढ़ने के लिए
धर्म का सारा विधान है और उस विधान की रक्षा के लिए
ईश्वरीय शासन की स्थापना है। इसलिए यह बात तो समझ में
आती है कि धर्माचरण से ईश्वर प्रसन्न होता है। पर उपासना
से प्रसन्न और निंदा से अप्रसन्न होने की बात सामने आने प
भारी संदेह उठ खड़ा होता है, क्योंकि इससे तो ईश्वर भी चाप
लूसी पसन्द, पक्षपाती, नवाब प्रकृति का, सिद्ध होता है। उसकं
अलिप्तता, समदर्शीपन, निस्पृहता पर स्पष्ट आक्षेप आता
और वह भी साधारण मनोविकारी मनुष्य की सीमा में
जाता है। इस सन्देह का समाधान करने के लिए केवल शुष्
वादाविवाद से काम न चलेगा वरन् हमें गहराई में उतर क
उस निमित्त का पता लगाना होगा जिसके कारण ईश्वर
उपासना प्रिय स्वभाव वाला माना गया है। डाक्टर हएटर
अपने अनुसंधानों के आधार पर यह प्रमाणित कर दिया है कि
"मूल वृत्तियों के विरुद्ध यदि कोई नवीन मार्ग निकालना हो
उसके लिए बार-बार, लगातार और कठोर प्रयत्न करने से न
आदत डालनी पड़ती है, इस पर भी वह आदत इतनी निर्ब

होती है कि कुछ दिनों उसकी ओर से उदासीनता धारण करली जाय तो वह मिट जाती है। इसलिए ऐसी आदतों को सुरक्षित करनेके लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहना पड़ता है।' यह अनादि सत्य वैदिक ऋषियों को भी ज्ञात था। उन्होंने सोचा कि ईश्वरीय शासन की सर्वाङ्गीन व्यवस्था बना देने पर भी यह पशु वृत्तियों के मुकाबले में हलकी रहेगी और जरा भी ढील देने पर कठिनाई बढ़ जायगी। इसलिए नित्य कई २ बार विशेष प्रेम एवं भक्ति के साथ मूर्ति पूजा के सहारे ध्यान में मग्न होकर नित्य नैमित्तिक कर्म काण्डों द्वारा ईश्वर की पूजा उपासना करते रहने का आदेश किया गया। पतंग बनाई जाय, उसमें डोरी बाँधी जाय, हवा में उड़ाई जाय फिर डोरी को हाथ में से छोड़ दिया जाय तो सारा प्रयत्न निरर्थक होजाय। जबतक पतङ्ग को हवा में उड़ाना है तब तक डोरी को हाथ में रखना चाहिए उसकी गति विधि का संचालन करना चाहिये। फौजी सिपाहियों को नित्य परेट करनी पड़ती है ताकि वह उस शिक्षा को भूल न जावें वरन् अभ्यस्त बने रहें। धर्म की रक्षा के लिए ईश्वर का शासन बनाया गया, पर बिना नियमितता के वह शासन विधान कैसे चलेगा? चूंकि ईश्वरवाद नया शिक्षण है, स्वार्थो को जीव जानता है पर ईश्वर के बारे में उसको मनुष्य योनि में ही ज्ञान मिला है। पुरानी आदत के मुकाबले में नई निश्चय ही कमजोर होती है। जंगली सुग्गा बेर जामुन खाया करता है पर सोने के पिंजड़े में दाख, अंगूर खाने का नया सुख प्राप्त करने के लिए पकड़ा जाना पसन्द नहीं करता। पिंजड़े में उत्तम रहन सहन मिलने पर भी वह फिर भी उड़ जाने का यत्न किया करता है. पिंजड़े को तीलियों से लड़ते हुए भागने का उसका वह यत्न नित्य ही देखा जा सकता है। यदि पिंजड़ा कमजोर हो तो संभव है कि नई

सुव्यवस्था को ठुकरा कर सुग्गा उड़ जाय चाहे उसे जङ्गल में कष्ट ही क्यों न सहना पड़े। यही देवासुर संग्राम मनुष्य के मन में नित्य होता है। आगे बढ़ने और पीछे हटने की रस्सी कसी ही खिंची रहती है। ढील पड़ते ही गुड़ गोबर हो सकता है। इसलिए ईश्वरवाद के आचार्यों ने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि ईश्वर की नित्य उपासना करनी चाहिए इसके बिना ईश्वरीय शासन पर विश्वास करने का लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। यही लाभ प्राप्त करना ईश्वर की प्रसन्नता एवं उसे न प्राप्त करना उसकी प्रसन्नता के अर्थों में कहा गया है।

•

हम मानते हैं कि ईश्वर निस्पृह है उसे निन्दा स्तुति की आवश्यकता नहीं। परन्तु यह भी मानना पड़ेगा कि नित्य की उपासना किए बिना ईश्वरीय शासन का विश्वास मन में दृढ़ बनाये रखना कठिन है। प्रसन्नता अप्रसन्नता को अलंकारिक शब्दों में यहां इसी प्रयोजन से प्रयोग किया गया है। 'प्रसन्न होना-सुख देना, अप्रसन्न होना—दुख देना' ईश्वर के इस कार्यक्रम पर हम मोटी दृष्टि से वाद विवाद करके किसी ठीक निश्चय पर नहीं पहुंच सकते। यदि हम आज इसका भावार्थ यों समझें कि 'ईश्वर उपासना में मनुष्य अपने पशु स्वभाव को दबाये रहकर सुख शान्तिमय जीवन बिताता रह सकता है' तो यह अर्थ ठीक शास्त्रकार की आन्तरिक इच्छा के ही अनुकूल होगा। महात्म्यों का वर्णन करते समय प्रलोभनों का समावेश जिस दृष्टि से हुआ है उसी दृष्टि से, उपासना से ईश्वर के प्रसन्न होने और सुख देने का वर्णन है। मूल तात्पर्य इतना ही है कि ईश्वरीय विश्वासों को दृढ़ रखने का निरन्तर अभ्यास रखना

आवश्यक है जिससे धर्माचरण के लिए हमारे पूज्य पूर्वजों ने जो गूढ़ मानसिक रहस्यों के आधार पर ईश्वरवाद की महत्व-पूर्ण व्यवस्था बनाई है वह सुदृढ़ और सुव्यवस्थित बनी रहे।

नास्तिक भी उपासना करें।



नास्तिकैरपि कर्तव्योपासना परमात्मनः।
जीवनं पतनं याति यतोह्याराधनां विना॥

—पञ्चाध्यायी।

(नास्तिकः) अनीश्वरवादियों को (अपि) भी (परमात्मनः) परमात्मा की (उपासना) उपासना (कर्तव्या) करनी चाहिए (यतोहि) क्योंकि (आराधनां) आराधना के (विना) बिना (जीवनं) जीवन (पतन) पतनावस्था को (याति) प्राप्त होता है।

पञ्चाध्यायी के उपरोक्त श्लोक में दिव्य सत्ता की-ईश्वर की—उपासना को आवश्यक बताया है। यहाँ प्रारम्भ में ही अनेक सन्देह उठ खड़े होते हैं। गणना की जाय तो संसार में इस समय एक तिहाई से भी अधिक जन-संख्या ऐसी होगी, जो ईश्वर का अस्तित्व मानने से ही इनकार करती है। विज्ञान कहता है कि—"कसौटी पर वर्तमान ईश्वर का ढाँचा खरा नहीं उतरा। विभिन्न सम्प्रदायों, पैगम्बरों ने और भक्त जनों ने ईश्वर का जैसा वर्णन किया है, वह परीक्षा के समय अवास्तविक

रतनारे नयन पतली नाक, मोती से दांत स्मरण हो आते हैं। अर्थात् 'सुन्दर' शब्द के साथ जो चित्र जुड़ा हुआ है, वह दिव्य नेत्रों के सामने नाचने लगता है। आप अपने में जो उन्नति देखना चाहते हैं, जिन जिन विशेषताओं की इच्छा करते हैं, उन सब का एक सम्मिलित चित्र अवश्य बन जायगा। यदि इच्छा निर्बल हुई तो वह चित्र भी धुँधला, निर्बल, अस्थिर और उदासीन होगा उन्नति की इच्छा जितनी ही प्रबल होगी, उतना ही चित्र अधिक स्पष्ट, सतेज, प्रकाशवान, स्थिर एवं उत्सुकता-पूर्ण होगा। एक प्रेमी अपनी प्रेमिका के विछोह में है। वह प्रेमिका को अपने पास देखना चहता है, उसकी यह इच्छा जितनी ही प्रबल होगी उतना ही उसे प्रेमसिका का ध्यान अधिक आवेगा। प्रेयसी की सलौनी मूर्ति आंखों के आगे ही खड़ी रहेगी। सच्ची लगन से ही किसी वस्तु की प्राप्ति होती है। मनुष्य यदि उन्नति दशा को प्राप्त होना चाहता है, तो यह कार्य यों ही लस्टम-पस्टम उदासीनता के साथ पूरा न होगा वरन दृढ विश्वास, सच्ची लगन प्रेममय उत्सुकता के साथ एक 'ध्येय प्रतिमा' बनानी होगी। आकांक्षा उस देह को प्राप्त करने की लगन में लगी रहे और तन मन से उसकी प्राप्ति का कर्तव्य करता रहे। कोलम्बस की आकांक्षा भारत भूमि को तलाश करने के लिए व्याकुल हो रही थी और सर्वस्व की बाजी लगाकर उसका तन मन जहाज का संचालन कर रहा था तब सही वह एक स्वर्णभूमि को ढूँढ पाया। यदि यों ही बिना किसी तीव्र आकांक्षा के बिना किसी ध्येय प्रतिमा के समुद्र में जहाज चला देता, तो सफलता प्राप्त नहीं कर सकता था।

हमारे पूर्वजों ने अत्यन्त गहरे मानसिक तत्व ज्ञान के आधार पर ईश्वर की सुन्दर मूर्ति का ध्यान करने की पूजा

विधान बनाया है। अपनी नाना प्रकार की उन्नति का बोध कराने वाली एक मनमोहक प्रतिमा का ध्यान करना आवश्यक है। इस प्रतिमा के साथ ईश्वर का पवित्र नाम जोड़ देने से यह विशेषता हो जाती है कि वह प्रतिमा केवल भौतिक सांसारिक-उन्नति तक ही सीमित नहीं रहती वरन् आध्यात्मिक के साथ, सतोगुणी दिव्य वृत्तियों के साथ, भी सम्बन्धित हो जाती है। यह रचना भौतिक और आध्यात्मिक दोनों उन्नतियों से युक्त हमारे भविष्य की रचना करता है। मनुष्य का मूल भूत प्रकृति उन्नति की ओर अग्रसर होने की है। कोई भी व्यक्ति उन्नति की इच्छा किये बिना रह नहीं सकता। इसलिए उन्नति भविष्य की एक रूप रेखा बनाना भी नितान्त अनिवार्य है। विष्णु लोक, गोलोक, स्वर्ग, बहिश्त, हेविन, आदि स्थान सम्बन्धी कल्पना है। तथा मुक्ति, स्वर्ग प्राप्ति आदि अवस्था सम्बन्धी कल्पनाएँ उसी ध्येय अवस्था की बोधक हैं, जिसकी प्रायः हर व्यक्ति इच्छा किया करता है।

ईश्वर को निराकार मानने वाले जो सज्जन परमात्मा का एक विशेष मूर्ति में ही होना स्वीकार नहीं करते, उनसे हमारी प्रार्थना है कि वे अपने मत को बदले बिना भी 'ध्येय प्रतिमा' का ध्यान करने के लाभों के सम्बन्ध मे विचार कर और उसके अन्दर जो बड़ा भारी लाभ छिपा हुआ है, उसे ग्रहण करें। अनीश्वरवादी महानुभाव कहा करते हैं कि हम 'पेशेवर धर्मध्वजी दुकानदारों के रिश्वती और खुशामदी खुदा को नहीं मानते।" अच्छा भाई, उसे मत मानो। पर अपना उत्तम भविष्य गढ़ने वाले सांचे को तो मानो। अच्छा उसको खुदा न कहो, हम तुम्हें दो एक नाम बताये देते हैं। चाहे [illegible] कहो, चाहे [illegible] कहो, पारसी [illegible] के [illegible] में [illegible]

जाओ। अपनी सूरत तो दर्पण में देखी ही होगी, उसका ध्यान नेत्रों से ध्यान करो उसे उत्तम सांसारिक और आध्यात्मिक गुणों से सजा डालो। वर्तमान शरीर की सभी कमियों को हटा कर अपने लिए जसा उत्तम शरीर चाहते हो, जैसे गुण चाहते हो, जैसी शक्तिया चाहते हो, उन सबसे अपनी तस्वीर की सजावट कर डालो। बस, ईश्वर की तस्वीर हो गई, इसी का ध्यान किया करो। इस मूर्ति से तुम्हारा जितना प्रेम होगा, उतना ही तुम भृङ्ग कीट की तरह उस आदर्श प्रतिमा में तल्लीन होते जाओगे और वह आध्यात्मिक तल्लीनता इतनी महत्व पूर्ण सिद्ध होगी कि बहुत अंश में तो वे इच्छाएं इसी जन्म में पूरी हो जायेंगी, रही बची अगले जन्म में अवश्य पूरी हो जॉयगी मजाक की बात नहीं है, यह आध्यात्मिक ध्रुव सत्य है, हिरन के बच्चे में अधिक प्रेम होने पर जड़ भरत के दूसरे जन्म में हिरन होने की कथा महाभारत में मौजूद है। तुम्हारी आकांक्ष जिस स्थित को प्राप्त करने में पुरी तत्परता से जुड़ी हुई है को कारण नहीं कि एक दो जन्मों में ही वह पूर्णता प्राप्त न हो जाय ध्यान प्रतिमा की भक्ति का अतुलित प्रताप है। इस महान सत्य को विज्ञान की कसौटी पर जितना-जितना अधिक कसा जात है उतना ही वह अधिक खरा साबित होता जाता है।

केवल ध्यान करने में कुछ नहीं होता, यह समझना भू है। ध्यान आरम्भिक सीढ़ी है। आदर्श का निर्माण होते ही शरीर और मन सारी शक्तियों से उसे प्राप्त करने लग जाता है और दृश्य एवं अदृश्य लोकों से सफलता के लिए ऐसे ऐसे विचित्र साधन सूक्ष्म तत्वों की सहायता से जुटाने लगता है, कभी कभी तो वे सहायताएं चमत्कार जैसी मालुम पड़ती हैं। कई बार भगत लोग,बड़े आलसी, दरिद्री अकमरय, दुर्गुणी,

था अवनति की ओर गिरते देखे जाते हैं। यह भगत लोग असल में भक्ति की झूँठी विडम्बना करते हैं, उनका भगतपना पेट पालने का या सस्ती वाहवाही लूटने का एक जरिया है। सच्चा ध्यान योगी ईश्वर की पवित्र मूर्ति में अपने को तल्लीन कर देता है, अथवा यों कहिए कि आत्मोन्नति की जो सब से ऊँची, सर्व गुण सम्पन्न 'ध्येय प्रतिमा' बनाई है, उसके साथ तदाकार होने के लिए प्रेम पूर्वक विह्वल हो जाता है भक्ति का सच्चा तत्व यही है। भक्ति का महा विज्ञान इतना सत्य है कि उसके प्रत्यक्ष परिणाम को चाहे जो अनुभव कर सकता है। आप कैसे बढ़ना चाहते हैं? उसका एक मजबूत नक्शा बनाकर उसमें सफल होने के लिए प्राण प्रण से तल्लीन हो जाइए। फिर कुछ ही दिनों में भक्ति का जादू देखिये, आपकी काया पलट होजायगी। काफिला कहीं का कहीं पहुँच जायगा। आपकी जीवन दशा में आश्चर्यजनक लौट पलट हो जायगी। भक्ति द्वारा उत्पन्न हुआ आत्मोन्नतिकारी प्रचण्ड विद्युत प्रवाह नस-नस में दौड़ने लगेगा। लालटैन के ऊपर जिस रंग का काँच लगा दिया जाय उसी रंग की रोशनी होने लगती है। जैसा जीवन ध्येय निश्चित होजाता है। उसी के अनुरूप शरीर के कार्य और मन के कार्य दिखाई देने लगते हैं।

पेशेवर भगत लोग 'भक्ति' का कैसा विकृत और नाशकारी रूप बनाये बैठे हैं, इस सम्बन्ध में पाठक स्वयं ही सब कुछ जानते हैं, उस गड़ी हुई दुर्गन्धि को उखाड़ कर बदबू फैलाने की इस समय हमारी इच्छा नहीं। इन पंक्तियों में तो हमने 'भक्ति' सच्चे तत्वज्ञान, ध्यानयोग के गुप्त रहस्य पर [illegible] डालते हुए यह बताने का प्रयत्न किया है कि अपने [illegible] किये हुए उच्च आदर्श एवं [illegible] भविष्य [illegible]

चमता, मानसिक चित्र निर्माण करना, आवश्यक है। ईश्वर मानने वाले या न मानने वाले सभी व्यक्तियों के लिए आवश्यक है कि ध्येय प्रतिमा का ध्यान किया करें। मनोविज्ञान शास्त्र की दृष्टि से यह व्यवहार कल्पवृक्ष के समान मनोवाञ्छा पूरी करने वाला सिद्ध होगा।

पूजा का मर्म।



यह भली प्रकार स्मरण रखना चाहिये कि पूजा उपासना प्रयोजन ईश्वर को प्रसन्न करना नहीं वरन् आपकी उ करना है। ईश्वर निन्दा स्तुति से प्रभावित नहीं होता। उपासना की जो वेदियाँ बनी हुई हैं वह ईश्वर को खुश के लिये नहीं हैं वरन् उन उपासना वेदियों के आधार पर आत नति की एक सुन्दर व्यवस्था बनाई गई है।

देव मंदिरों का निर्माण हमारे पूजनीय पूर्व पुरुषों ने सार्वजनिक धर्म संस्था के रूप में किया था। आज कल ज की सुख शान्ति के लिये सरकारी, अर्ध सरकारी, गैर सर अनेक संस्थाए स्थान स्थान पर होती हैं। चिकित्सालय, ालय, पाठशाला, व्यायामशाला, पूजामठ, कथा, सत्संग, ग, मनोरञ्जन आदि के लिए अलग अलग संस्थाऐं ब

जाती हैं और उनके लिए स्थान का. पैसे का पृथक पृथक प्रबंध होता है प्राचीन काल से यह सब व्यवस्थाएं एक ही स्थान पर होती थीं। मंदिर संस्था का निर्माण बहुत सुदृढ़ आधार पर होता था इसलिए वह स्थानीय जनता की अनेक सार्वजनिक आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर लेती थी। धर्म और ईश्वर का संबंध मंदिर संस्था से स्थापित कर देने से पुण्य, लाभ होने की धारणा बना देने से, आर्थिक व्यवस्था अपने आप हो जाती थी। आज कल की तरह सार्वजनिक कार्यों के लिए घर घर चंदा मांगने की आवश्यकता न होती थी वरन् वहाँ के निवासी अपनी मंदिर संस्था के लिए स्वयं ही दान दिया करते थे। विवाह, पुत्र जन्म, व्यापार लाभ, आदि खुशी के अवसरों पर मंदिरों को भरपूर दान दिया जाता था, महोत्सवों के समय भी मंदिरों में विशेष दान देने की प्रथा थी। साधारण अवसरों पर भी कुछ न कुछ दिया ही जाया करता था इस तरह मंदिरों के पास स्वेच्छा और श्रद्धा से आया हुआ धन पर्याप्त मात्रा में जमा रहता था। सुरक्षित पूंजी को मूर्ति के जेवरों के रूप में रख दिया जाता था।

पवित्र एवं सार्वजनिक जीवन के लिए अत्युपयोगी मंदिर संस्था का कार्य संचालन यों ही किसी ऐरे गैरे नत्थू खैरे नौकर के हाथ में नहीं सौंप दिया जाता था, वरन् विद्वान् सदाचारी, धर्मवान, सुयोग्य ब्राह्मण को मंदिर संस्था का संचालक नियुक्त किया जाता था। महन्तजी या पुजारीजी का पद अत्यंत ऊंचे गौरव का था। इस महान् उत्तरदायित्व को बहुत ही सुयोग्य धर्मसेवी सज्जन ग्रहण करते थे। उनकी अन्न वस्त्र सम्बन्धी जीविका मंदिर में आये हुए दान के कुछ भाग से चल जाती थी, धनोपार्जन की चिन्ता से मुक्त होकर वे अपने सच्चरित्र

की शारीरिक और मानसिक उन्नति के लिए निरन्तर प्रयत्न करते रहते थे। एक भी यजमान का अशिक्षित, रोगी, अधर्मी, अविवेकी होना, पुजारीजी, पुरोहितजी, केलिए लज्जा की बात थी। पाप पुण्य में पुरोहित दशवें अंश का साक्षी माना गया है। क्योंकि यजमान तो पुण्याचरण करता है परन्तु उसमें ऐसी सद्बुद्धि उत्पन्न करने के लिए तो परोहित ने ही बहुत समय तक परिश्रम किया था इसलिए दशवें अंश का पुण्य पुरोहित को मिलना आवश्यक है। यदि यजमान पाप करता है तो इसमें पुरोहित की कर्तव्यहीनता, अयोग्यता, निर्बलता, सिद्ध होती है। उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर उसे पूरा न करना भी तो अपराध है, इस दृष्टि से यजमान के पाप में पुजारीजी को भी दशवें भाग के भागीदार बनना पड़ता था। पुरोहित, पण्डित, पुजारी गुरू आदि कई श्रेणियां आजकल दिखाई देती हैं, पूर्व काल में यह सब एक ही तत्त्व था। जहां कार्य बहुत अधिक बढ़ जाता था वहां कई व्यक्तियों को अलग अलग काम सौंप दिये जाते थे, जहां थोड़ा काम होता था वहां एक सज्जन कब काम पूरा करते रहते थे।

संस्था के संचालन में स्थायी कर्मचारी तथा, आर्थिक आय की आवश्यकता होती है। मंदिर का भवन, महन्त एवं चढ़ावा (दान) के रूप में उपरोक्त तीनों ही व्यवस्थाओं का सुन्दर समन्वय हुआ है। नगरों में, मुहल्लों में, कस्बों में, ग्रामों में, हम मन्दिरों का अस्तित्व पाते हैं। मानव जीवन को सुख शान्ति के ढांचे में ढालने वाली इन संस्थाओं को अत्यन्त उपयोगी समझ कर विवेकशील धर्म पुरुषों ने इनका अधिक से अधिक संख्या में विस्तार किया था। 'पाठशालाओं की वृद्धि हो' इस आवश्यकता को इस समय हर समझदार व्यक्ति अनुभव करता है, उस

समय यह आवश्यकता अनुभव की जाती थी कि अक्षर ज्ञान के साथ साथ शारीरिक और मानसिक उन्नति की क्रियात्मक सुदृढ़ शिक्षा देने वाली मन्दिर संस्थाओं की वृद्धि हो। इसलिए मंदिर बनाना, बनवाना उच्च कोटि का धर्म कार्य गिना गया है। सचमुच ऐसे उपादेय, आदर्श, एवं जनता का पथ प्रदर्शन करने वाली धर्म संस्था का निर्माण करना ऊँचे दर्जे का सात्विक पुण्य कार्य ही कहा जाना चाहिए।

मंदिर संस्था के अन्तराल में मूल उद्देश्य जनता की शारीरिक और मानसिक उन्नति के लिए जबरदस्त पथप्रदर्शन करना था। उसका स्थानीय रूप ऐसा बनाया गया था कि जनता की अटूट श्रद्धा उन पर बनी रहे। पूजनीय अवतारी महापुरुषों की मूर्तियां, ईश्वरीय शक्तियों की तस्वीरें, मानव जीवन के उच्च आदर्शों की ध्येय प्रतिमाऐं, उन मंदिरों में पधराई जाती थीं जिन्हें देखते ही दर्शकों के अन्तःकरण में श्रद्धा का संचार हो। "महन्तजी के अन्नदाता हम हैं।" ऐसा अहंकार किसी यजमान के मन में न आने पावे, और "मैं दूसरों के दिए टुकड़े से पेट पालता हूं।" ऐसी लज्जा पुजारीजी अनुभव न करें इसलिए एक मध्यवर्ती मार्ग निकाला गया, वह था—'मूर्तियों को भोग लगाना।' देख लिया जाता था कि मंदिर में कार्य करने वाले जितने व्यक्ति हैं, उनकी आवश्यकता पूर्ति के योग्य भोजन मूर्तियों के भोग के लिए तैयार होता था और प्रसाद के रूप में महन्तजी उन्हें ग्रहण करते थे। यजमान समझते थे ईश्वर को भोग लगाया जारहा है, महन्तजी समझते थे ईश्वर का प्रसाद खाते हैं। इस प्रकार इस अहंकार एवं लज्जा की जड़ को ही काट दिया गया। जब क्रम समाप्त होने को हो तो पुजारी जी भी बिना संकोच के कह सकते थे कि भाई अब ईश्वर के भोग

के लिए अन्न चाहिए। यजमान भी चिन्ता करते कि कहीं ऐसा न हो कि ईश्वर की मूर्ति भूखी रह जाय। इस प्रकार ईश्वर को अभ्यस्त बनाकर महन्तजी के जीवन निर्वाह का उत्तम प्रबंध किया गया था, "भोग लगाना" इस प्रक्रिया के अन्तर्गत मन्दिर संचालक की निर्वाह व्यवस्था छिपी हुई है।

उस समय आज की घड़ियां नहीं थी। धूप घड़ी, जल घड़ी बालू घडी आदि का प्रबन्ध मन्दिरों में रहता था। आज कल बड़े नगरों में सरकारी घंटाघर बने हुए हैं, जहाँ जनता की जानकारी के लिये घंटा बजाया जाता है। प्राचीन समय प्रातःकाल उठ बैठने, दोपहर को भोजन करने, रात को का बन्द करने तथा सो जाने के समय पर मंदिरों में आरती आदि का घंटा बजता है। उसे सुनकर सब लोग सहज ही सम जान लेते थे। पत्थर की मूर्ति को जगाने के लिए घंटा न बजता था वरन शंख, झालर बजाने का उद्देश्य जनता को समय की जानकारी करा देना होता था। श्रद्धा भावना जाग्रत रख के लिए एवं रुचि बढ़ाने के लिए कभी कभी मूर्तियों की कु पूजा अर्चा भी आवश्यक समझी जाती थी तो पुष्पाञ्जलि दीपदान, शृङ्गार आदि की भी थोड़ी बहुत व्यवस्था हो जा थी। इस तरह मन्दिरों में लोक सेवा के साथ साथ कुछ स्थानि आकर्षण सजाव शृङ्गार भी होता रहता था।

भारतीय मनोवृत्ति सदा से अलंकार प्रिय रही है। छाय वादी, रहस्यवादी, विचार धारा को पसन्द किया गया है। स को रूखे और नंगे रूप में रखने की अपेक्षा उसे शिव सुन्दर बनाने पर विशेष जोर दिया गया है। सत्यं शिवं सुन् यहां की प्रधान अभिरुचि रही है। शारीरिक और मानसि उन्नति के सीधे सादे नियमों में भी रहस्य वाद को सम्मिलि

करके इन्हें अधिक सुन्दर एवं आकर्षक बनाने का प्रयत्न किया गया है। स्नान करने से शरीर का मैल छूट जाता है और स्वास्थ्य वृद्धि होती है यह सीधी सी बात है परन्तु उसे भारतीय धर्मवेत्ताओं ने इस रूप से रखा है कि स्नान से धर्म लाभ होता है। उपवास करना उदर शुद्धि के लिए उत्तम नियम है यह सर्व विदित बात है इसी को आचार्यों ने इस तरह कहा है कि उप वास से स्वर्ग लाभ होता है। ईश्वर को प्रसन्न करने के नाम पर तीर्थ यात्रा, हवन, यज्ञ, दान, जप, आदि शुभ कर्मों का महात्म्य वर्णन किया गया है। तत्वज्ञानी लोग यह मानते रह सकते हैं कि इन सब कर्मों का ईश्वर से कोई संबंध नहीं यह तो अपने लाभ की बातें हैं। परन्तु इससे तीर्थ यात्रा आदि शुभ कर्मों के महात्म्य में कमी नहीं आती। आयुर्वेद शास्त्रों में लिखा है कि सौ योजन पैदल चलने से जघाओं के स्नायु सुदृढ होजाते हैं और प्रमेह रोग अच्छा हो जाता है। तीर्थ यात्रा में जाने से स्नायुओं की दृढ़ता, रोग की निवृत्ति, स्वास्थ्य कर स्थानों में निवास, तीर्थ वासी विद्वान् धर्म प्रचारकों का सत्संग, यह सब क्या कम लाभ की बातें हैं। इनन लाभ को ईश्वर की प्रसन्नता का फल कहने में कुछ अत्युक्ति नहीं है। हिन्दू धर्म में ईश्वर के नाम पर जो भी उत्तमोत्तम सिद्धान्त प्रचलित किये गये हैं वे सभी हमारे प्रत्यक्ष लाभ के लिए हैं। कथा पुराण कहने सुनने से ईश्वर प्रसन्न होता है। सदुपदेशों को श्रद्धा पूर्वक श्रवण करना इतना महत्वपूर्ण है कि उससे जीवन में असाधारण दैवी परि-वर्तन हो सकता है, क्या इतने बड़े लाभ को ईश्वर की प्रसन्नता नहीं कहा जा सकता ?

रहस्यवादी अलंकारिक ढंग से शरीर और मन की उन्नति करने वाले कार्यों को ईश्वर को प्रसन्न करने वाला बताया

गया है। इसका तत्व-अर्थ यह है कि इन कार्यों से मनुष्य का व्यक्तिगत एवं सामूहिक प्रत्यक्ष लाभ होता है। ईश्वर निस्पृह है उसे निन्दा स्तुति की कुछ भी परवाह नहीं है। अग्नि तत्व न तो किसी पर प्रसन्न होता है न किसी से नाराज। जो व्यक्ति अग्नि संबंधी नियमों को ठीक तरह जानते हैं और उनका ठीक उपयोग करते हैं वे अग्नि की सहायता से अनेक लाभ उठाते हैं। जो अग्नि के नियमों को भंग करते हैं वे जल जाते हैं या अन्य प्रकार से हानि उठाते हैं। जो अग्नि के नियमों से लाभ उठाता है वह दूसरे शब्दों में यों कह सकता है कि अग्नि की कृपा मुझ पर है जो अग्नि के नियमों को तोड़ कर जल मरता है वह समझता है कि अग्नि का मेरे ऊपर प्रकोप है। असल में अग्नि किसी पर प्रसन्न या अप्रसन्न नहीं है, निन्दा स्तुति से वह प्रभावित नहीं होती। ईश्वर भी ऐसा ही समदर्शी और निर्विकार है। उसकी विशेष प्रसन्नता या अप्रसन्नता किसी पर भी नहीं होती। ईश्वरीय नियमों का पालन करने और तोड़ने वाले अपने आप उस कृपा अकृपा को अपने ऊपर खींच बुलाते हैं।

मंदिरों, मठों, तीर्थों का ईश्वर को निवास स्थान कहा जाता है क्योंकि इन स्थानों के द्वारा वह कार्य होते हैं जिससे जन सेवा हो, जन समाज के सुख सौभाग्य से अभिवृद्धि हो। सत्य की ओर चलना सात्विकी उन्नति की तरफ अग्रसर होना जीव का धर्म है। धर्म का पालन करने सेईश्वर प्रसन्न होता है। पूजा उपासना का तात्पर्य यह है कि हम स्वयं अधिक तीव्र गति से उन्नति पथ पर कदम बढ़ावें और दूसरों को उत्थान पथ पर अग्रसर करें। सारे धार्मिक कर्मकाण्ड एवं ईश्वर पूजा के उपकरण उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही बनाये हैं। निर्विकारी, समदर्शी, निर्लिप्त,

निष्पक्ष ईश्वर के साथ पूजा प्रार्थना के संबंध जोड़कर भारतीय आध्यात्मवेत्ताओं ने एक बड़ी ही मनोवैज्ञानिक चातुरी का परिचय दिया है। हम लोगों को इस अद्भुत समन्वय के लिए उन सूक्ष्मदर्शी आचार्यों की बुद्धि पर गर्व करना चाहिए।



पूजा का मर्म।

ईश्वर है। उसे न मानने की अपेक्षा मानने में अधिक लाभ है। हमारी परलोक उन्नति में ईश्वर की मान्यता रखने से पर्याप्त सहायता मिलती है। मानसिक उन्नति की दृष्टि से ईश्वर को मानना उतना ही उपयोगी है जितनी शारीरिक उन्नति के लिए उत्तम आहार विहार का सेवन करना। ईश्वर को साधन बनाकर सामाजिक व्यवस्था को सुखद शान्तिमय, मानवजीवन को संतुलित एवं मानसिक विकास को अधिकाधिक उन्नतिशील बनाने का प्राचीन सुन्दर प्रयत्न किया गया है। यह सब बातें पिछले पृष्ठों पर पाठक पढ़ चुके हैं। अब हमें तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर और आत्मा के सम्बन्धों पर विचार करना है और यह देखना है कि आत्मा को परमात्मा का आश्रय ग्रहण करने से क्या लाभ होता है।

आपका इष्ट देव है। इस चित्र को ऐसे स्थान पर रखिए जहाँ बार बार आपकी दृष्टि पड़ती हो। साधना के समय-प्रातः सायं-इस चित्र को सामने रख कर बड़े ध्यान पूर्वक उसके एक एक अङ्ग को बहुत देर तक देखते रहा करिए। बीच बीच मे नेत्र बंद करके उस चित्र का ध्यान करिये, चित्र को आंखों से देखना-फिर आंख बन्द करके उसका ध्यान रखना' इस क्रम को एक दो घंटा तक नित्य जारी रखिये। कुछ दिन में ऐसा अभ्यास हो जायगा कि नेत्र बन्द करते ही वह चित्र मानस नेत्रों के सामने प्रत्यक्ष खड़ा हो जायगा अर्थात् ध्यान मे वह तस्वीर ऐसी साफ दिखाई देने लगेगी कि मानो खुली हुई आखों से सामने रखे हुए चित्र को ही देख रहे हैं। आरम्भ काल में ध्यान प्रतिमा धुँधली होती है पर प्रयत्न करने से वह धीरे धीरे अधिक स्पष्ट होती आती है।

इस चित्र में ईश्वरीय प्राण प्रतिष्ठा कीजिये अर्थात् ऐसी भावना कीजिये कि यह जड़ तस्वीर नहीं वरन् सजीव देवता है। उसके अन्दर शरीर और मन सम्बन्धी सभी योग्यताएँ एक जीवित मनुष्य की भांति मोजूद हैं। वह प्रतिमा सब कुछ सुनती है, जानती है और अनुभव करती है। उस मानस चित्र को जीवित देवता मान लेने के उपरान्त अब उसमें गुणों, योग्यताओं और शक्तियों की स्थापना कीजिए। मनुष्य चाहता है कि मेरा शरीर सुदृढ, गठीला, रक्त मास से भरा हुआ, गौर वर्ण हो। बड़े नेत्र, लम्बी नाक, भरा-हुआ गुलाबी चहरा, पतले हाथ, सुन्दर दांत इस प्रकार जितनी ऊंची सौन्दय की कल्पना आप कर सकते हैं और स्वस्थ सुगठित शरीर की उत्तम भावना जितना आप स्थिर कर सके उतनी उस चित्र मे सम्मिलित करिए। शारीरिक दृष्टि से ये सब ऊंची कल्पाएँ अपने इष्टदेव

के साथ जोड़ दीजिये जिन्हें प्राप्त करने की आप इच्छा करते हैं। और भी खुलासा इस बात को यों समझिए कि कोई देवता प्रसन्न होकर आपको यह बरदान मांगने के लिए कहे कि तुम जैसा अच्छा शरीर अपने लिए चाहो मांगलो। निस्संदेह उस समय तुम अपनी कल्पना को जितनी ऊँची दौड़ा कर स्वस्थ सुन्दर शरीर का होना सोच सकते हैं वैसा शरीर मांगोगे। अपने इष्ट देव का ठीक ऐसा ही शरीर ध्यान करने का प्रयत्न करो। उसके एक अंश में मन मोहक सौन्दर्य की भावना करो।

अब उस प्रतिमा में मानसिक गुणों की प्राण प्रतिष्ठा करनी है। तामसी और राजसी गुणों को आप छोड़ दीजिये क्योंकि उस मंजिल को तो आप पार कर चुके या बहुत जल्द कर चुकने वाले हैं। सत्वगुण अभी प्राप्त करना शेष है। इसलिए इष्ट देव में केवल सत् तत्वों की ही स्थापना कीजिए। प्रेम, दया, क्षमा, सहायता, सेवा, उदारता, त्याग, करुणा, प्रसन्नता, परमार्थ आदि सात्विक गुणों का समन्वय इष्ट देव में होना चाहिये। देवताओं में मनुष्य की अपेक्षा बहुत ऊचे सात्विक गुण होते हैं वे अत्यन्त परमार्थी होते हैं, सेवा और सहायता उनके प्रधान कर्म होते हैं। इष्ट देव में इन सभी सद्वृत्तियों की प्रचुरता आपको माननी चाहिये। स्मरण रखिये एक भी तामसी गुण की मान्यता इष्ट देव में न होजाय वरना वे दुर्गुण भी आपको मिलेंगे। जो लोग अपने इष्ट देवों में चोरी, व्यभिचार, छल, मद्यपान, निर्दयता आदि दुष्टताओं का होना भी जोड़ लेते हैं वे बड़ी भारी भूल करते हैं। लालटेन में रंगीन काँच लगा देने पर जैसे रोशनी भी लाल ही होती है वैसे ही देवता में तामसी गुण जोड़ देने पर उसकी भक्ति से भी वही गुण प्रसाद रूप में

मिलते हैं । इसलिये यदि आप इष्ट देव को राम, कृष्ण आदि महापुरुषों के रूप में मान रहे हैं तो उनके चरित्र में जो दोष थे, उन्हें अपनी इष्ट प्रतिमा में भूलकर भी न आने दीजिये । अन्यथा बड़ी भयंकर हानि होगी । कहते हैं कि उलटा मन्त्र अपने से जप करने वाले को हानि होती है । इष्ट देव में तामसी गुण आरोपित कर देने पर अत्यन्त ही घातक परिणाम उपस्थित होता है । ध्यान प्रतिमा के अन्तर्गत सात्विक दैवी गुणों की ही मान्यता होनी चाहिए जिससे उनकी भक्ति पर प्रसाद स्वरूप वही गुण प्राप्त हो सकें ।

मनुष्य की शक्तियाँ सीमित हैं । वह नियत मर्यादा तक ही क्षमता रखता है । उस मर्यादा से बाहर उसकी पहुंच नहीं है। यह सीमा बन्धन उसे बहुत अखरता है । अष्ट सिद्धि, नव निद्धि, का अर्थ उस बन्धन से ऊँचा उठ जाता है । इष्ट देव की शक्तियाँ अनन्त माननी चाहिये । इस प्रकार इष्टदेव की मानसिक स्थापना करके उसमें श्रद्धा और विश्वास सुदृढ़ करना चाहिये । ईश्वर सभी रूपों में है तो इस ध्येय प्रतिमा में क्यों न होगा । कोई भी दृष्य अदृष्य पदार्थ ईश्वरीय सत्ता के बिना बनना सम्भव नहीं है मन ने जो यह श्रद्धा मूर्ति बनाई है निस्संदेह ईश्वर उसके भीतर समाया हुआ है । वह ईश्वरीय शक्ति से प्रथक नहीं है । माना कि यह प्रतिमा पूर्ण ईश्वर नहीं है परन्तु ईश्वर तत्व के उन अंशों का समूह अवश्य है जिन्हें हम अपने जीवन के लिए आवश्यक समझते हैं और इच्छा करते हैं । कल्पित भूत प्राण घातक बन जाता है तो कल्पित प्रतिमा भी कल्पवृक्ष बन सकता है । कल्पना की हुई इष्टदेव की प्रतिमा निरर्थक नहीं है वरन् भक्ति [illegible] मनो वाँछित लाभ उठाया जा सकता है

'सोऽहं' साधना

साधना के लिए प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व प्रातःकाल
थवा दिन छिपे सायं-संध्या समय बहुत उत्तम है। फिर भी
ई कोई प्रतिबन्ध नहीं है, यदि किसी अन्य समय में शान्ति-
चक एकान्त समय मिलता हो तो वह भी ठीक है। किसी
कान्त और निर्विघ्न स्थान में आसन जमाइए। नेत्रों को बन्द
रिये और दोनों हाथों को गोदी में रख लीजिए। शरीर को इस
रह बिलकुल ढीला कर दीजिए कि किसी अङ्ग पर अनावश्यक
बाव या तनाव न रहे। सीधी सीधी सरल स्थिति में शान्त
त्त से बैठकर इष्टदेव का अपने मस्तिष्क प्रदेश में, ब्रह्माण्ड
ध्यान कीजिए। जब ध्यान प्रतिमा मानस नेत्रों के सामने
स्पष्ट हो जावे तब साँस की चाल पर नासिका का नियन्त्रण
आरम्भ कीजिए। सांस लेने और छोड़ने का ध्यान नासिका
खे। आध्यात्म वेत्ता जानते हैं कि नासिक द्वारा वायु जब
भीतर जाती है तो 'सो' शब्द सीटी के समान बजता है और
जब वायु बाहर निकलती है तो 'ह' ध्वनि होती है। हर सांस
के साथ 'सोऽहं' जप होता रहता है। कानों को नियुक्त करना
चाहिए कि वे इन शब्दों को सुनें। जिह्वा स्वांस प्रश्वास
के साथ साथ 'सोऽहं' शब्दों का उच्चारण करती रहे। इष्टदेव का
नेत्रों का देखना और 'सोऽहं' ध्वनि का नाक का अनुभव
करना, कान का सुनना, जिह्वा का उच्चारण करना यह सब म
ही मन होना चाहिए। बाह्य इन्द्रियाँ तो अपना कार्य बन्द कि
रहें पर सूक्ष्म इन्द्रियाँ उपरोक्त साधना में लगी रहें।

जब स्पर्शेन्द्रिय का ज्ञान होता है 'सो' ध्वनि के साथ इ
देव की प्रतिमा को [illegible] 'ह' ध्वनि

आडम्बर" का होता है। लोग अपनी स्वतंत्र बुद्धि की आत्म प्रेरणा का, इस नशे से हनन कर डालते हैं और पाप पूर्ण परिस्थितियों में भी नाली के कीडे की तरह संतोष लाभ करने लगते हैं।

इस तीसरे दर्जे के ईश्वर को बहुत प्राचीन समय में "शैतान" नाम दिया गया था। आध्यात्मिक विद्वान उसे "अफीम की गोली" कहते हैं। समाज शास्त्रियों की दृष्टि में वह "स्वार्थ साधन का आडम्बर है।" हम इसे "पाप प्रपंच" घोषित करते हैं और अपने पाठकों से अनुरोध करते हैं कि इस मानसिक महामारी को हजार कोस दूर से दण्डवत करते हुए उससे बच भागने के लिए सदैव सावधान रहें।

मनुष्य को देवता बनाने वाली पुस्तकें:—

यह बाजारू किताबें नहीं हैं, इनकी एक एक पंक्ति के पीछे गहरा अनुभव और अनुसंधान है:—

१—मैं क्या हूं ?	।=)
२—सूर्य-चिकित्सा विज्ञान	।=)
३—प्राण चिकित्सा विज्ञान	।=)
४—परकाया प्रवेश	।=)
५—स्वस्थ और सुन्दर बनने की अद्भुत विद्या	।=)
६—मानवीय विद्युत के चमत्कार	।=)
७—स्वरयोग से दिव्य ज्ञान	।=)
८—भोग में योग	।=)
९—बुद्धि बढ़ाने के उपाय	।=)
१०—धनवान बनने के गुप्त रहस्य	।=)
११—पुत्र या पुत्री उत्पन्न करने की विधि	।=)
१२—वशीकरण की सच्ची सिद्धि	।=)
१३—मरने के बाद हमारा क्या होता है	।=)
१४—जीव जन्तुओं की बोली समझना	।=)
१५—ईश्वर कौन है ? कहां है ? कैसा है ?	।=)
१६—क्या धर्म ? क्या अधर्म ?	।=)
१७—गहन कर्मणोगति	।=)
१८—जीवन की गूढ़ गुत्थियों पर तात्विक प्रकाश	।=)
१९—पंचाध्यायी धर्म नीति शिक्षा	।=)
२०—शक्ति संचय के पथ पर	।=)
२१—आत्म गौरव की साधना	।=)
२२—प्रतिष्ठा का उच्च सोपान	।=)
२३—मित्र भाव बढ़ाने की कला	।=)
२४—आन्तरिक उल्लास का विकास	।=)
२५—आगे बढ़ने की तैयारी	।=)